

गुरु पर विश्वास का परिणाम

कहते हैं कि मालिक का पूरा-पूरा भेद कोई नहीं जान सकता। अरे! मालिक की बात छोड़ो उसकी बनाई हुई लीला, प्रकृति या माया को भी जब कोई पूरी तरह से आज तक नहीं जान पाया तो उस लीलाधारी को कोई कैसे जान सकता है? अर्थात् नहीं जान सकता। और जब मालिक मानव चोले में संतरूप या गुरुरूप में अवतरित होता है तो उसको और उसकी लीला को पूरी तरह जानना तो अधिक दुष्कर है। इस तथ्य और सत्य को समझाना या इसकी व्याख्या करना तो सबसे अधिक दुस्तर है या यों कहिए की बिलकुल असम्भव है। इसका मुख्य कारण है हमारी सीमित बुद्धि और असीम अंहकार। वैसे तो यह विषय सतसंग से और हर व्यक्ति के व्यक्तिगत अनुभव से ताल्लुक रखता है, फिर भी जो गम्भीर विषय या बातें ठोस ज्ञान द्वारा समझ में नहीं आतीं वे कहानी-किस्सों द्वारा आसानी से समझ में आ जाती हैं। अतः हम भी इसे समझाने के लिये एक कहानी कहते हैं।

एक सतसंगी था जो अपने गुरु (परमसंत हुजूर मानव दसाल) जी से बहुत प्यार करता था, बिना अपने गुरु का आशिर्वाद लिये कोई भी नया काम नहीं करता था, पारिवारिक और सांसारिक सभी कार्यों में उसे अपने गुरु की सहमति लेने की आदत बन गई थी। इस तरह उसके जीवन की नौका तमाम झंझावतों और झकोलों के बावजूद सहज रूप से चल रही थी या यों कहो कि उसका उसके गुरु पर अडिग विश्वास उसे दुनियावी परेशानियों से दूर रखे हुये था। गुरु कृपा से वह हर परेशानी को बिना परेशान हुये आसानी से पार कर जाने का आदी हो चुका था। उसके गुरु भी उससे बहुत प्रेम करते थे और अक्सर सतसंगों में उसका प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जिकर भी करते थे चाहे वह वहाँ मौजूद हो या न हो।

अब गुरु तो गुरु होता है वह शिष्य को भी अपने जैसा बनाने का प्रयास करता रहता है और इसके लिये वह शिष्य की परीक्षा भी लेता है या परीक्षा लेने की लीला करता है। उसके लीला करने का उद्देश्य शिष्य को भ्रमित करना नहीं है अपितु उसके भ्रमों को दूर करके उसे मजबूत बनाना होता है। फिर कोई भी अवस्था हमेशा एक सी नहीं रहती, उसमें परिवर्तन होता ही रहता है और यही परिवर्तन विकास क्रम भी कहलाता है। इस शिष्य के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। 12 वर्ष तक उसे अपने निकटतम सानिध्य में रखने के बाद उसके गुरु ने उसको अपने से दूर रखने का कठोर निर्णय लिया ताकि उनका शिष्य अधिक निष्ठावान और मजबूत बन सके लेकिन यह शिष्य अपने गुरु की लीला को न समझ सका और तीन बार अपने गुरु से आज्ञा लेकर 1500 कि० मी० की दूरी तय करके अपने गुरु से मिलने गया लेकिन वे उसे नहीं मिले। वह दुखी तो हुआ मगर हताश नहीं हुआ। जब उसने पत्र द्वारा अपना रोना रोया तो गुरुदेव ने चुटकी में ही उसकी परेशानी दूर कर दी जिससे उसके परिवार को शारीरिक, मानसिक और आर्थिक लाभ की प्राप्ति हुई मगर दर्शन नहीं दिये और यह शिष्य छटपटाता ही रहा।

समय बदला, परीस्थितियां बदली और साथ ही धीरे-धीरे इस शिष्य के मन में अपने गुरु के प्रति श्रद्धा और विश्वास में कमी आनी शुरू हो गई। परिणाम यह हुआ कि जब शिष्य का सात वर्ष का बनवास समाप्त हुआ तब उस नामाकूल मनमुख ने अपने गुरु के पास रहने के बजाय 30 कि० मी० दूर (उसे समय उसके गुरु फरीदाबाद में रहते थे) दिल्ली में रहना पसंद किया। इससे भी बढ़कर इसने एक घोर धृष्टता और कर दी यदि उसे अक्षम्य अपराध कहें तो उचित होगा कि इसने अपने गुरु को बिना बताये नियत समय से 3 वर्ष पूर्व सेवानिवृति का आवेदन दे दिया। जब एक दिन (26 जनवरी 2001) को यह अपने गुरु से मिलने गया तो उसको पता चला कि वे तो एस्काट हास्पिटल में भर्ती हैं। जब यह उनसे मिलने हास्पिटल गया तो कमरे के बाहर हुजूर शब्दानन्द जी महाराज (हुजूर मानव दयाल जी महाराज के जां-नशीन) मिले जो गुरुदेव की सेवा में रत थे, उन्होंने इसे अन्दर भेज दिया। गुरुदेव तो अन्तर्यामी थे, वे सब जानते थे लेकिन चारों तरफ दवाइयों की नलिकाओं के लगे होने के कारण कुछ बोल नहीं सके परन्तु फिर भी उन्होंने अपनी चिरपरिचित मुस्कान बखेर कर इस शिष्य को निहाल कर दिया। ऐसा लगता था कि उन्होंने इसे क्षमा कर दिया लेकिन यह क्या? अपने शिष्य की बेरुखी से वे इतने आहत हो चुके थे कि इसकी सेवानिवृति (31.03.2011) से पूर्व ही उन्होंने अपना भौतिक चोला 22 फरवरी 2001 को ही छोड़ दिया।

इसके बाद तो इस शिष्य के सिर पर मुसीबतों और मानसिक तनाव का पहाड़ टूट पड़ना लाजमी था और हुआ भी ऐसा ही। यह बुरी तरह से टूट चुका था, बिखर चुका था क्योंकि इसको सान्त्वना और मार्गदर्शन देने वाला रहबर इसे छोड़कर दूर जा चुका था। जब यह पूरी तरह से कुंठित हो गया तब हारकर यह हुजूर शब्दानन्द जी महाराज की शरण में गया तो इन्होंने इसे बेहद प्यार दिया, ढाढ़स दिया, सम्मान दिया, और इसके जीवन का पुनिर्माण करना शुरू कर दिया और बड़े सलीके से, सहानुभूति से इसकी घड़त करनी शुरू कर दी। परन्तु साथ ही स्पष्ट शब्दों में कह भी दिया, “मैं तेरा गुरु नहीं हूँ”। इसके बाद इसको आत्म ज्ञान का पाठ पढ़ाना शुरू किया। हुजूर मानव दयाल जी महाराज ने तो इसकी दुनिया ही बनाई थी परन्तु इन्होंने तो इसका दीन भी बना दिया, परलोक भी सुधार दिया और साथ ही इसको एक सम्माननीय पद भी दे दिया। लेकिन इसकी परीक्षा तो अभी होनी बाकी थी। फिर किसकी परीस्थितियां सदा एक समान रहीं हैं जो इसकी रहतीं। इन्होंने इस शिष्य के कर्म काटने के लिये इसको एक काम दिया (वैसे गुरु किसी को भी कोई आज्ञा नहीं देते क्योंकि गुरु जानता है कि गुरु की आज्ञा का पालन करना कोई हंसी खेल नहीं है और गुरु अवज्ञा का दण्ड बड़ा भयंकर होता है)। वे सात वर्ष तक लगातार इसे याद भी दिलाते रहे परन्तु यह मनमुख उस काम को टालता ही रहा। यह घटना अपनी चरम सीमा पर तब पहुंची जब अचानक कब और कैसे, जाग्रत में या स्वप्न में, उस शिष्य के मन में एक ख्याल आया “तू मानव दयाल थोड़े ही है” (हुजूर मानव दयाल जी महाराज अपने गुरु के एक इशारे पर अमेरिका का वैभव और शानोशौकत छोड़कर भारत में सतसंगियों की सेवा करने आ गये थे)। बस उसी क्षण से इस अहसान फरामोश का पतन शुरू हो गया। इसका मानसिक संतुलन बिगड़ गया और यह अशान्ति के चक्रव्यूह में बुरी तरह से फंस गया। सारा ज्ञान-ध्यान काफूर हो गया और यह निराशा के गहन सागर में डूबने लगा। हुजूर पुष्कर दयाल जी के पूछने पर उन्होंने एक दिन कह ही दिया कि इसकी अशान्ति का कारण है “इसने सेवा नहीं की”।

हुजूर शब्दानन्द जी महाराज तो सब जानते थे, वे इससे इतने आहत हुये कि उन्होंने सबसे बोलना छोड़ दिया, सबसे संबंध विच्छेद कर दिया और अपने आंख, कान और मुंह पर ताला लगा लिया। अब वे अपने आप में गुम होने लगे और आज हालत यह है कि वह अपने आपको भी नहीं पहचानते। कहने को तो वे शरीर में हैं परन्तु वे शरीर, मन, आत्मा, सुरत, प्रकाश और शब्द से भी परे अपने आप में उस अवस्था में रहते हैं जहाँ का वर्णन आज तक कोई नहीं कर सका। वे तो वहाँ पहुंच गये परन्तु यह अभागा शिष्य जिसे वे अपने जैसा बनाना चाहते थे, मात्र एक काठ का उल्लू बन कर रह गया, न दीन का रहा न दुनिया का रहा।

परमसंत हुजूर पुष्कर दयाल जी महाराज जिन्हें हुजूर शब्दानन्द जी महाराज ने अपना जां-नशीन बनाया है (जब तक कि परम संत हुजूर रवि पंडित जी महाराज सतसंगियों की सेवा करने स्थाई रूप से भारत नहीं आ जाते) ने जब उस शिष्य की यह दशा देखी तो अपनी असीम करुणा की वर्षा करके उसे सराबोर कर दिया, उसके जीवन में पुनः ऊर्जा का संचार कर दिया। जो काम हुजूर शब्दानन्द जी महाराज ने उसको दिया था, जिसे वह टालता आ रहा था, हुजूर पुष्कर दयाल जी महाराज की करुणा से अब वह उस काम को बिना प्रयास ही सहज रूप से और निष्काम भाव से कर रहा है। इनके सानिध्य में रहकर उसका प्रकाश (01.01.2012) और शब्द (12.02.2012) भी खुल गया परन्तु अभी मंजिल नहीं मिली क्योंकि प्रकाश और शब्द तो मंजिल तक पहुंचने का साधन हैं। उसे विश्वास है कि जिसने मार्ग बताया है वही मंजिल पर भी पहुंचायेगा। अब हुजूर पुष्कर दयाल जी महाराज की महानता देखिये, ये उस शिष्य को लेकर (यह हुजूर पुष्कर दयाल जी की लीला है वरना वे तो साक्षत् वही हैं) स्वयं हुजूर शब्दानन्द जी महाराज के पास (05.05.2012) को ले गये और इसका परिचय कराने के लिये अनेक विशेषणों का प्रयोग किया जिनका वर्णन करना यहाँ उपयुक्त नहीं है क्योंकि इससे उस शिष्य के अहंकार को बढ़ावा मिलेगा जिसे मिटाने के लिये यह सब किया जा रहा है। परन्तु हुजूर शब्दानन्द जी महाराज ने इसे नहीं पहचाना, उल्टे एक अबोध बालक की भांति लीला करने लगे—कभी मुंह पर, कभी आंखों पर और कभी चश्में पर रूमाल को रखकर आंख मिचौनी करते रहे। जो अखिल ब्रह्माण्ड को और इसके नियन्ता को जानता हो वो भला अपने जीवों को कैसे भूल सकता है अर्थात् वे सब कुछ जानते हुये भी अनजान से बनकर लीला करते रहे। परन्तु हुजूर पुष्कर दयाल जी कृपा से यह शिष्य इस घटना से नितांत अविचलित रहा।

अन्त में हुजूर शब्दानन्द जी महाराज ने एक बात कही जो सदैव अनुकरणीय है, स्मरणीय है और प्रातः—सांय स्तुति करने योग्य है और वह थी—

‘नहीं रूप कोई हैं सब रूप तेरे’ ।

स्वामी जी महाराज कहते हैं, “संत डारिया बीज जब, को समरथ जारे इस जीव को।” अर्थात् जब सतगुरु किसी शिष्य को नाम दान देते हैं तो उसकी रक्षा भी स्वयं ही करते हैं। वैसे संत सतगुरु न जन्म लेता है, न मरता है, उसका न कोई रूप होता है और न ही कोई नाम होता है, वह तो बस प्रकट होता है और अप्रकट होता है। संतसतगुरु जब अप्रकट होता है तब वह अपनी मशाल जिसे सौंप कर जाता है उसके भीतर अपना समस्त ज्ञान और शक्ति का संचार करके उसे सबल बना कर जाता है, अपने से भी अधिक शक्तिशाली बनाकर जाता है। इस प्रकार वर्तमान संतसतगुरु के अन्दर पूर्व के सभी संतों की शक्ति का समावेश हो जाता है। और वह शिष्य इस बात को डंके की चोट पर कहता है कि परम संत हुजूर शब्दानन्द जी महाराज स्वयं जिनके पैरों को हाथ लगाते हैं, जिनके अन्दर वे स्वयं मौजूद हैं और जिनके अन्दर उन्होंने पूर्व के सभी संतों का ज्ञान और शक्ति भर दी है, वे हैं हुजूर पुष्कर दयाल जी महाराज।

इस कहानी से हमें क्या शिक्षा मिलती है?

1. हमारी बुद्धि सीमित है क्योंकि कोई कितना भी बड़ा सुपर कमप्यूटर क्यों न हो उसकी भी कोई न कोई सीमा होती है तो मानव भी चाहे कितना ही बुद्धिमान क्यों न हो उसकी भी एक सीमा होती है और वह उस सीमा से बाहर न सोच सकता है और न ही उससे ज्यादा ग्रहण कर सकता है। और जो इस संसार को बनाने वाली और इसको चलाने वाली सत्ता का भी आधार है (वह स्वयं निराधार है) जिसकी एक बूंद मात्र से अरबों— खरबों आकाशगंगायें बनती बिगड़ती रहती हैं, वह असीम है, उसकी कोई सीमा नहीं है तो भला उसका पता हमारी सीमित बुद्धि कैसे लगा सकती है अर्थात् नहीं लगा सकती।

2. हमारा अंहकार असीम है, इसकी कोई सीमा नहीं है जबकि मालिक अंहकार शून्य है। वह सब कुछ का मालिक होते हुये भी, सब जगह रहते हुये भी हमेशा छिपा रहता है और कभी अपनी सत्ता को प्रकट नहीं करता; इसके विपरीत जो कुछ भी प्रकट में दिखाई देता है वह उस प्रकट रूप के नाम से ही जाना जाता है, गुप्त को कोई नहीं जानता। यही वह रहस्य है, यही वह सत्य है जो इस बात की गवाही देता है कि वह अंहकार शून्य है और हम कुछ भी न होते हुये, हमारा कुछ भी न होते हुये सब कुछ बनते हैं, सब कुछ अपना समझते हैं। बस यही है हमारे अंहकार का असीमपना। हमारे अंहकार की हद तो तब होती है जब हम सागर से अंजुली में पानी भरकर, सागर की अवहेलना करके उस पानी पर अपनी मलकियत जताते हैं। उस समय हम भूल जाते हैं कि न जाने कब वह पानी हमारी उंगलियों में से रिसकर उसी समुद्र में चला जाएगा। अगर उस समय हम उस समुद्र से यह कहें कि हे देव! यह पानी तो आपका ही है और अंजुली भी आपकी ही है और जब तक आपकी कृपा बनी रहेगी यह पानी इस अंजुली में बना रहेगा, इससे आपके भंडार में कुछ भी कमी नहीं आयेगी। ऐसा सोचने मात्र से अंहकार छूटने लगता है। जो इसे स्वेच्छा से छोड़कर उसकी शरण में चला जाता है उसका आवागमन मिट जाता है वरना मृत्यु पर तो सब कुछ स्वयं ही छूट जाता है मगर अंहकार नहीं छूटता और यही शारीरिक और मानसिक बोधभान (शरीर और मन को मैं मान लेना) का अंहकार आवागमन का कारण है। असली ‘मैं’ तो मालिक की ‘मैं’ है।

3. मालिक असीम है और उसकी प्रकृति भी असीम है अर्थात् वह गुप्त रूप में भी असीम है और प्रकट रूप में भी असीम है। जब उसके प्रकट रूप का पूरा पता नहीं चलता तो उसके गुप्त रूप का पूरा पता चलना तो असंभव है। लेकिन जब वह मालिक मानव चोले में संतसतगुरु रूप में प्रकट होता है तो उसका पूरा पता चलना तो नितांत असंभव है। क्योंकि हम उसको मनुष्य मानने की भयंकर भूल कर बैठते हैं। जबकि संत कहते हैं “गुरु का मानुष मत जानो, वह तो है सतपुरुष की जान” और कहते हैं “गुरु को मानुष जानते, ते नर कहिये अंध। दुखी होय संसार में आगे जम का फंद।।” और तो और मंदिर की मूर्ति में विराजमान देवी—देवता को भी उसी चार—दिवारी में कैद करके रख दिया जाता है, उसे भी हर जगह, हरेक का और हरेक में मौजूद नहीं समझा जाता वरना तो संसार के सब झगड़े—टंटे दूर हो जायं।

4. इसी प्रकार संतसतगुरु का हम आदर तो करते हैं, उस पर श्रद्धा और विश्वास भी करते हैं लेकिन हम उसका कहना नहीं मानते। यदि हम यह सीमा तोड़ दें और उसे हद-बेहद से परे जानकर उसकी सर्वव्यापक और असीम सत्ता (है तो वह वही) पर विश्वास कर लें तो हमें उसका अनुभव भी होगा और एकाकार या साक्षात्कार भी होगा क्योंकि वह हमसे अलग कोई दूसरी सत्ता है ही नहीं।

5. जिसको इस बात का यकीन हो जाता है कि **अ)** इस संसार में जो कुछ भी हो रहा है यह हम सबकी भलाई के लिये हो रहा है, भले ही वह भलाई हमारे संकीर्ण दृष्टिकोण के कारण हमें वर्तमान में दिखलाई न पड़ रही हो; **ब)** जो भी हो रहा है यह केवल नाटक या क्रीड़ा मात्र है, माया है, छाया है, वास्तविक सी जान पड़ती है परन्तु इसका अस्तित्व नहीं है क्योंकि यह सतत परिवर्तनशील है; **स)** इस तमाम चक्र या झूले के पीछे कोई अपरिवर्तनशील सत्ता केन्द्रस्थकेन्द्रम् जरूर है जो सबका आधार होते हुये भी स्वयं निराधार है; **द)** हमारे मन में जो विचार उठते हैं या रंग रूप पैदा होते हैं वे भी हैं नहीं केवल भासते हैं और जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि के अनुसार हमको हमारा संसार बना कर दिखाते हैं; वह इस ठगनी रूपी माया के स्वरूप को पहचान कर इसके ठगने में नहीं आता अर्थात् उसको यह माया प्रभावित नहीं करती और उसे मायापति के क्षेत्र में या गुरु के दरबार में प्रवेश मिल जाता है।

6. यदि कोई गुरु को मानता है (सबके लिये यह जरूरी नहीं कि कोई गुरु को माने) तो उसे पूर्ण माने अर्थात् उसके अन्दर विद्यमान परमतत्व को पहचाने (गुरु मनुष्य नहीं होता, शरीर गुरु नहीं है) और उसकी बात को भी माने, उस पर श्रद्धा और विश्वास भी रखे क्योंकि इस संसार में जिस किसी को जो कुछ भी मिलता है वह उसे उसके श्रद्धा और विश्वास का ही फल मिलता है। जितनी गहरी श्रद्धा और विश्वास होगा उसी सीमा तक उसका फल भी मिलता है। विश्वास में कमी आने पर सब उपलब्धियां समाप्त हो जाती हैं।

7. सतगुरु की अवहेलना होने पर भी, गुरु की अवज्ञा होने पर भी गुरु किसी को दण्ड नहीं देते क्योंकि वे तो अपने जीवों से केवल प्रेम करने के लिये ही अवतरित होते हैं परन्तु प्रकृति जो सतगुरु या परमतत्व की चेरी है वह इस अपमान को बरदास्त नहीं करती कि कोई उसके स्वामी के साथ बेवफाई करे, इसलिये प्रकृति संवेदनहीन बनकर उस दुष्ट को सबक सिखाती है। और पता है यह कैसे दण्ड देती है— इसका ऐजेन्ट मन जो हम सबके अन्दर मौजूद है वह हमारे सब अच्छे-बुरे कर्मों के संस्कार लेकर हर समय हमें प्रताड़ित करता रहता है और ठोस माद्दा (gross matter) का रूप बनकर विभिन्न रूपों में और विभिन्न प्रकार से दंडित करता रहता है।

8. जब श्रद्धालु जिज्ञासु निर्विकार और निर्विचार होकर अपने अपने सतगुरु के मार्ग-निर्देशन में अपने प्रियतम को अपने अन्दर ही खोजता है तो उसे उसका अनुभव भी होता है लेकिन वह उसका वर्णन शब्दों में नहीं कर सकता क्योंकि शब्दों की सीमा होती है और असीम का अनुभव भी असीम ही होता है; उसे शब्दों की सीमा में नहीं बांधा जा सकता। वैसे वह सत्ता शब्द में भी है, शब्द से ही जुड़ी है लेकिन वह शब्द से परे एक अशब्द अवस्था है। उसे ढूँढने वाला ढूँढते-ढूँढते उसी में या अपने आप में ही इतना खो जाता है कि उसे यह पता ही नहीं रहता कि कौन ढूँढ रहा है और किसे ढूँढ रहा है और ढूँढने का माध्यम क्या है? और जब उसे होश आता है तो वह गूंगा हो जाता है। जो उस अनुभव का वर्णन करने की कोशिश करते हैं वे उस अवस्था का पूरा यथावत वर्णन नहीं कर पाते बल्कि मंजिल के रास्तों का या प्रयासों का वर्णन ही कर पाते हैं।

9. गुरु को कभी अपने से गैर या दूसरा समझने की भूल मत करना बल्कि "देवं भूत्वा देवं भजेत्" अर्थात् उसे अपना 'स्व' मानकर और जानकर उसकी पूजा करो क्योंकि पूजा करने वाला भी वही है और जिसकी पूजा हो रही है वह भी वही है, पूजा की सामग्री और साधन भी वही है। यही बात हुजूर शब्दानन्द जी महाराज ने "तत्वमसि" उस शिष्य को तब कही थी जब वह उनके सबसे ज्यादा निकटतम था और वे उसको आत्मज्ञान का पाठ पढ़ा रहे थे। परन्तु जब तक शिष्य का अन्तर्तम इस प्रकार की भावना को ग्रहण करने योग्य नहीं होता तब तक एकाकार या साक्षात्कार नहीं होता, इसमें समय लगता है। इस भावना को पैदा करने के लिये ही तो पूजा-पाठ या साधन अभ्यास किया और कराया जाता है वरना तो प्रियतम और प्रेयसी का मिलन तो पहले से ही मौजूद है, केवल इस सत्य का अनुभव करना ही तो गहन रहस्य है। और यह अपने प्रयासों से नहीं बल्कि सतगुरु की दया मेहर से ही संभव हो पाता है।